बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 91

वित्त मंत्री की चुनौतियां

देश की नई वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण को कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा क्योंकि देश की अर्थव्यवस्था में धीमापन आ रहा है। मंदी का सिलसिला लगातार तीन तिमाहियों तक पहुंच गया है। शुक्रवार को जारी आधिकारिक आंकड़ों के मुताबिक वर्ष 2018-19 की अंतिम तिमाही में यानी जनवरी से मार्च के बीच देश का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) केवल 5.8 फीसदी की दर से बढ़ा। यह अनुमान से कम है। वर्ष की पहली तिमाही में 8 फीसदी की वृद्धि के बाद जुलाई-सितंबर के दौरान दूसरी तिमाही में अर्थव्यवस्था 7 फीसदी की दर से और अक्टूबर-दिसंबर की तीसरी तिमाही में 6.6 फीसदी की दर से विकसित हुई। यह मंदी का स्पष्ट संकेत है। राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय ने भी पूरे वर्ष के अपने वृद्धि अनुमान को 7 फीसदी से घटाकर 6.8 फीसदी कर दिया। आंकड़े तमाम क्षेत्रों में मंदी का संकेत दे रहे हैं। इससे इस आशंका की पुष्टि होती है कि मौजूदा मंदी चक्रीय न होकर ढांचागत है। अप्रैल 2019 के अंतिम उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक आठ प्रमुख बुनियादी क्षेत्रों में मंदी जारी है और इनकी वृद्धि 4.9 फीसदी से घटकर 2.6 फीसदी हो गई।

अंतिम तिमाही में धीमी वृद्धि का अर्थ यह भी है कि सरकार अब भारत के दुनिया की सबसे तेज विकसित होती बड़ी अर्थव्यवस्था होने का दावा नहीं कर सकती। हालांकि यह तमगा भी कोई मायने नहीं रखता क्योंकि तमाम समान अर्थव्यवस्थाओं का प्रदर्शन भारत से बेहतर है। आर्थिक मोर्चे पर नई सरकार के समक्ष कई चुनौतियां हैं। आधिकारिक आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 2017-18 में बेरोजगारी दर 6.1 फीसदी थी हालांकि अधिकारियों का यह भी कहना है कि इन आंकड़ों की पिछले वर्षों से तुलना नहीं की जा सकती। मंदी के कई अन्य संकेतक भी हैं। अप्रैल में विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्र का पर्चेजिंग मैनेजर्स इंडेक्स 51.6 और 51 रहा। अगस्त और सितंबर 2018 के बाद यह सबसे धीमी वृद्धि थी। औद्योगिक उत्पादन सूचकांक का पूंजीगत वस्तु क्षेत्र भी अप्रैल में लगातार तीसरे महीने कमजोर हुआ। शनिवार को देश की सबसे बड़ी कार निर्माता कंपनी मारुति सुजूकी ने मई में अपनी बिक्री 22 फीसदी गिरने की बात कही। यह सात वर्षों का न्यूनतम स्तर है।

मौजूदा मंदी के कई कारक हैं। इनमें से एक कारक है अत्यधिक क्षमता की समस्या जिसके चलते निजी क्षेत्र का निवेश कमजोर पड़ता है। जबकि यह वृद्धि का एक बड़ा कारक है। निवेश में इसलिए भी कमी आई है क्योंकि गैर बैंकिंग वित्तीय क्षेत्र की फाइनैंसिंग पर सवाल उठे हैं। यह क्षेत्र आईएलऐंडएफएस के कुछ कर्ज के डिफॉल्ट होने के बाद लगे झटके से उबरने में नाकामयाब रहा है। सरकार को इस क्षेत्र में सुधार के लिए अपनी प्राथमिकता तय करनी होगी ताकि धन का प्रवाह बरकरार रखा जा सके। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि यह क्षेत्र कॉर्पोरेट जगत के ऋण की फाइनैंसिंग की दृष्टि से बहुत अहम होकर उभरा है। दुनिया को लेकर भी हमें कहीं अधिक खुला नजरिया अपनाना होगा। अगर हम निर्यात पर ध्यान नहीं देते हैं तो हमारी अतिरिक्त क्षमता की समस्या बरकरार रहेगी। देश में इतनी अधिक मांग नहीं है जितनी कि हमारी उत्पादन क्षमता हो चुकी है। अगर हम शेष विश्व को निर्यात का केंद्र बन जाएं तो इतने भर से हमारी अतिरिक्त क्षमता की समस्या दूर हो जाएगी। सरकार के पिछले कार्यकाल में अधिकांश वक्त निर्यात के मोर्चे पर प्रगति देखने को नहीं मिली। सीतारमण को आगे बढ़कर ढांचागत सुधार की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना होगा। ऐसा करने पर ही प्रतिस्पर्धा बहाल की जा सकती है और निर्यात वृद्धि की सहायता से अर्थव्यवस्था को उबारा जा सकता है।

दीपक शर्मा

पितृ सत्तात्मक दल की स्वनिर्मित नेत्री

गरिमामय अंदाज में विदा लेने वाली सुषमा स्वराज भाजपा की आम नेत्रियों जैसी नहीं रहीं। भाजपा को इस काबिल नेत्री की कमी खलेगी।

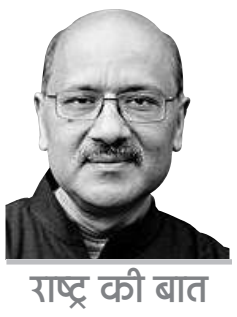

राष्ट्र की बात

शेखर गुप्ता

राष्ट्रपति भवन में जब सुषमा स्वराज नए मंत्रियों के लिए नियत स्थान के बजाय अग्रिम पंक्ति में अन्य गण्यमान्य अतिथियों के साथ बैठीं तो वहां एक किस्म की खामोशी के साथ-साथ फुसफुसाहट भी चल रही थी। उनके प्रशंसकों को अब भी लग रहा था कि नरेंद्र मोदी अपना दूसरा कार्यकाल अपनी इस सर्वाधिक लोकप्रिय मंत्री के बिना शुरू नहीं कर सकते।

उनकी स्वास्थ्यगत चुनौतियां किसी से छिपी नहीं हैं। अपने गुर्दा प्रत्यारोपण की खबर ट्विटर पर जारी करके उन्होंने भारतीय सार्वजनिक जीवन की एक वर्जना को ही तोड़ा। शल्य चिकित्सा के बाद उन्होंने अच्छी तरह स्वास्थ्यलाभ भी लिया। उनका प्रतिरक्षा तंत्र अभी नए गुर्दे को अपना ही रहा था और इसी बीच उन्होंने संयुक्त राष्ट्र में पाकिस्तान को जवाब दिया, दुनिया भर के समकक्ष विदेश मंत्रियों के साथ चर्चा की और असाधारण शालीनता का परिचय दिया। उन्होंने एक बार भी जुबानी कमजोरी का परिचय नहीं दिया, न ही किसी पर क्रोध करती हुई दिखीं।

इसे अपना हथियार बनाकर उन्होंने एकदम नए किस्म की कूटनीति तैयार की और दुनिया भर के नेताओं तक पहुंच बनाई। उनके प्रतिद्वंद्वियों और शंकालु स्वभाव के लोगों ने कहा कि पूरी विदेश नीति तो मोदी चला रहे हैं, ऐसे में उनके पास ट्विटर पर पासपोर्ट-वीजा-आव्रजन के मामले निपटाने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं रहा। कई बार उन्हें केवल विदेशों में रह रहे भारतीयों का मददगार बनाकर पेश किया गया लेकिन उन्होंने इसका भी बुरा नहीं माना।

मोदी मंत्रिमंडल में किसी भी मंत्री के लिए कुछ खास करने को नहीं था। सुषमा के लिए मामला वाकई कठिन था क्योंकि वैश्विक स्तर पर प्रधानमंत्री के ही चर्चे अधिक थे। सुषमा ने उनका मार्ग प्रशस्त किया। परंतु उनके आकर्षण और मीडिया में उनकी प्रशंसा कतई कम नहीं हुई। उनके पास वह नजर है जो दीवार पर लिखी इबारत पढ़ लेती है। उन्होंने खुद को एक दायरे में रखा और मोदी के बारे में तारीफ के सिवा कभी एक शब्द नहीं कहा।

हम दोनों ने अपने-अपने करियर की शुरुआत सन 1977 में चंडीगढ़ से की। वह 25 वर्ष की उम्र में देवी लाल की जनता पार्टी सरकार में सबसे कम उम्र की मंत्री बनीं और मैं इंडियन एक्सप्रेस में सिटी रिपोर्टर बना। मुझे पता है कि उनमें धैर्य और आत्मसम्मान अन्य नेताओं से अधिक है। मैं अब भी समझ नहीं पा रहा हूं कि 42 वर्ष की अपनी राजनीति में उन्होंने इस नई भूमिका को कैसे अंगीकार किया होगा जहां अपनी पार्टी की सरकार के तीसरे शपथग्रहण में वह एक आगंतुक के रूप में पहुंचीं। खासतौर पर तब जबकि उनके उत्तराधिकारी एस जयशंकर बने। जयशंकर उनके कार्यकाल में 2015 से 2018 तक विदेश सचिव और उसके पहले अमेरिका में राजदूत थे। उन्होंने इसे दार्शनिक अंदाज में लिया होगा। वह यह भी जानती हैं कि यह उनके राजनीतिक सफर का मोड़ नहीं बल्कि उपसंहार है।

वह अंबाला के एक आरएसएस से जुड़े परिवार में पैदा हुईं। उनके पिता आरएसएस के प्रमुख पदाधिकारी थे लेकिन उनकी पहचान बनी जॉर्ज फर्नांडिस की युवा और तेजतर्रार वकील के रूप में। उन्होंने आपातकाल के दौरान बड़ौदा डायनामाइट कांड में जॉर्ज का मुकदमा लड़ा।

फर्नांडिस की तरह सुषमा के साथी अधिवक्ता स्वराज कौशल भी समाजवादी थे। आपातकाल के विरोध के दौर में ही दोनों ने विवाह कर लिया। कुछ समय वह अपने जीवनसाथी के वैचारिक प्रभाव में भी रहीं लेकिन उनकी मूलभूत मान्यताएं तो आरएसएस की ही थीं। उनके समाजवादियों के साथ मेलजोल से एक भ्रम सा बना। सन 1977 में आपातकाल समाप्त हुआ और इंदिरा गांधी की कांग्रेस का पतन हुआ। तब वह 25 वर्ष की उम्र में हरियाणा की श्रम और रोजगार मंत्री बनीं। उन्हें जनता पार्टी का उभरता हुआ सितारा और फर्नांडिस का सहयोगी माना जा रहा था, न कि आरएसएस या जनसंघ का।

सन 1970 के दशक में एक महिला का महज 27 की उम्र में हरियाणा में जनता पार्टी का अध्यक्ष बन जाना मामूली बात नहीं थी। परंतु सन 1979 में जनता पार्टी के विभाजन के बाद वह जनसंघ की ओर मुड़ गईं। उसके बाद उनका अद्भुत विकास हुआ।

उन्होंने हमें यह यकीन दिलाने का प्रयास किया कि वह भाजपा की पारंपरिकता में यकीन करती हैं। उन्होंने अजंता की नृत्यरत अप्सरा को राष्ट्रीय कैलेंडर से बाहर कराने से लेकर एफटीवी पर प्रतिबंध लगाया, कंडोम के विज्ञापनों पर अश्लीलता के आरोप के चलते प्रतिबंध लगाया, स्टूडेंट ऑफ द इयर फिल्म में सेक्सी राधा गाने का विरोध किया और दीपा मेहता की फिल्म फायर में राधा और सीता नामक समलैंगिक किरदार निभाने वाली शबाना आजमी और नंदिता दास के प्रणय दृश्यों पर एतराज किया। हाल ही में सरोगेसी को लेकर अपने विचार और बलात्कार पीड़िता को जिंदा लाश कहकर उन्होंने अपना नजरिया पेश किया। परंतु ये बातें उन्हें रूढ़िवादी भाजपाई नहीं बनातीं।

उनके जीवन के अनेक ऐसे पहलू हैं जो बताते हैं कि वह अलग हैं। उन्होंने एक मध्यवर्गीय जीवन जिया और अपनी जिंदगी के फैसले लिए। उस वक्त ऐसा ज्यादा लोग नहीं करते थे। उन्होंने अपनी पार्टी की उन सीमाओं को भी तोड़ा जो पितृसत्ता से पीढ़ियों से थोपी थी। इसमें पार्टी की पुरुष प्रधान पितृ संस्था का भी योगदान रहा।

मंगलूरु में जब हिंदुत्व का रूढ़िवादी चेहरा समाने आया और अनैतिकता का आरोप लगाते हुए युवतियों को बार से घसीट बाहर किया गया तब उन्होंने चयन की आजादी की बात की और बतौर एक युवती की मां होने के आधुनिक स्वतंत्र स्त्रियों की सुरक्षा की बात कही। उनकी पार्टी में कुछ लोग नाराज हुए लेकिन उन्होंने अपने लगातार बढ़ते प्रशंसकों को जता दिया था कि वह अलग हैं। उन्होंने इस वर्ष लोकसभा चुनाव न लड़ने की घोषणा करके ही यह बता दिया था कि वह सत्ता से अलग रहना चाहती हैं। वह कुल 11 बार विधानसभा और संसद के चुनाव लड़ चुकी हैं और उनकी उम्र महज 66 वर्ष है। परंतु बहुत कम उम्र में मधुमेह होने के चलते स्वास्थ्य उनके सामने चुनौती बन गया है। उनकी यह विदाई सुनियोजित और गरिमापूर्ण है। मेरा मानना केवल यह है कि उन्हें थोड़ा और पहले एक वक्तव्य जारी करके इसकी औपचारिक सूचना देनी थी कि वह नए मंत्रिमंडल में शामिल नहीं होंगी।

उनके विरोधी भी मानेंगे कि उनका करियर एक विजेता का रहा है और वह हमेशा अपने दल की वफादार रही हैं। वह आडवाणी की समर्थक थीं लेकिन 2009 के बाद जब वह नई पीढ़ी के लिए रास्ता खाली करने को तैयार नहीं थे तब वह वेंकैया नायडू, अनंत कुमार और अरुण जेटली के साथ उन चार प्रमुख नेताओं में थीं जिन्होंने आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत से हस्तक्षेप कर युवा पार्टी अध्यक्ष चुनने को कहा। तब नितिन गडकरी अध्यक्ष बने।

जेटली के साथ उनकी प्रतिद्वंद्विता जाहिर है लेकिन पार्टी के लिए वे साथ आए। बीते पांच वर्ष के दौरान भी ऐसे अवसर आए जब उन्हें लगा कि उनकी अनेदखी हुई या पीएमओ ने उनको दरकिनार किया लेकिन उनकी महत्ता तो इसी बात से जाहिर होती है कि जब मोदी विदेश यात्रा पर थे और उनके नंबर दो राजनाथ सिंह चीन की यात्रा पर, तब मोदी ने जेटली पर सुषमा स्वराज को तरजीह दी और कहा कि वह दुबई की यात्रा रद्द कर दिल्ली में बनी रहें। यह उनकी वफादारी और उनकी निर्णय क्षमता पर मोदी के भरोसे की स्वीकारोक्ति थी। यह उनके राजनीतिक जीवन का शिखर भी था। आप इस बात पर बहस कर सकते हैं कि अगर भाजपा या आरएसएस ने आडवाणी के पश्चात उन्हें भाजपा का युवा नेतृत्वकर्ता चुना होता तो क्या होता? आखिरकार वह मोदी से युवा हैं। तब भाजपा कैसी होती? शायद तब पार्टी वैचारिक तौर पर इतनी रूढ़िवादी नहीं होती जितनी कि वह अभी है लेकिन वह शायद इतनी एकजुट भी नहीं होती।

यह अकादमिक लेकिन बेहतर चर्चा है। क्रिकेट की तरह राजनीति में भी हर सितारे का करियर कपिल देव सचिन तेंडुलकर जैसा नहीं हो सकता। किसी न किसी को राहुल द्रविड़ की भूमिका भी निभानी पड़ती है। जो भरोसेमंद तो होता है लेकिन उसे वह प्रसिद्धि और ताकत नहीं मिलती। सुषमा स्वराज को इसी प्रकार परिभाषित किया जा सकता है।

मोदीजी, अबकी बार सूटबूट की सरकार

सम सामयिक

टीसीए श्रीनिवास-राघवन

जुलाई 2014 में राहुल गांधी के एक बेतुके से वाक्य ने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को पूरी तरह हिलाकर रख दिया था। गांधी ने कहा था कि मोदी सरकार सूटबूट की सरकार है और वह अमीरों की सरकार है जो केवल अमीरों के हित में काम करती है। अगले पांच वर्ष तक प्रधानमंत्री यह सुनिश्चित करने में लगे रहे कि उनकी सरकार, अमीरों की सरकार न नजर आए।

परंतु अब मोदी ने भारतीय जनता पार्टी को एक शानदार जीत दिलाई है और वह देश के निर्विवाद नेता के रूप में उभरे हैं। परंतु एक चुनौती अब भी उनके सामने है: उन्हें अपने मस्तिष्क से वाम रुझान का दबाव निकालना होगा।

यह दुखद है और जिस प्रकार उन्होंने कांग्रेस की छद्म धर्मनिरपेक्षता को उजागर किया वैसे ही अब उन्हें उसके छद्म समाजवाद को उघारना चाहिए, जिसने उन्हें भी प्रभावित किया है। उन्हें खुद को इस धारणा से मुक्त करना होगा कि सरकार को पूंजी का समर्थन करते हुए नहीं नजर आना चाहिए।

हर कोई जानता है कि भारत को गरीबी हटाने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर निवेश की आवश्यकता है। अब तक तो हम यह भी जान गए हैं कि निजी निवेश के माध्यम से ही ऐसा करना संभव है क्योंकि पूंजी की कमी से जूझ रहे देश में चंद धोखेबाजों को छोड़ दें तो आज भी निजी क्षेत्र पूंजी का कहीं अधिक किफायती इस्तेमाल करता है।

यह भी एक बड़ी वजह है कि अगर वह गरीबों की मदद करना चाहते हैं और उसका श्रेय भी चाहते हैं तो उन्हें चीन की तरह खुलकर पूंजी समर्थक नीतियों को अपनाना होगा। उन्हें यह भी याद रखना होगा कि पूंजी समर्थक होने का मतलब पूंजीवाद समर्थक होना नहीं है। वह कांग्रेस का तरीका था जहां सरकारी निवेश के पक्ष में निजी पूंजी को नकारा गया और सरकारी क्षेत्र पर तरजीह देकर मनोनुकूल निजी पूंजीपतियों को बढ़ावा दिया गया।

क्या किया जाना चाहिए

विश्व का आर्थिक इतिहास बताता है कि जिन सरकारों ने निजी पूंजी का सहयोग किया उनकी वृद्धि दर बेहतर रही। इस तरह देखें तो ऐसे कानूनों की आवश्यकता है जो पूंजी में भेद नहीं करते, उन्हें व्यापक और गहरा बनाने की दृष्टि से भी यह अनिवार्य हैं। चीन ने ऐसा ही किया है।

सन 1970 से ही भारत इस दिशा में विफल रहा है। उसके पहले हमें इसमें काफी सफलता मिलती रही है। सन 1970 के बाद नीतिगत ध्यान राजनीति प्रेरित और वाम प्रेरित पुनर्वितरण नीतियों की ओर हो गया। इसकी कीमत निवेश और वृद्धि के मोर्चे पर चुकानी पड़ी। ईशर आहलूवालिया की सन 1983 में आई किताब इसे सही तरीके से परिभाषित करती है।

मोदी ने अपने पहले कार्यकाल में इसे नहीं समाप्त किया क्योंकि वह दोबारा चुनाव जीतना चाहते थे। वह नहीं चाहते थे कि उनके साथ वह दोहराया जाए जो अटल बिहारी वाजपेयी के साथ हुआ।

अब जबकि दोबारा उनकी सरकार बन चुकी है, उन्हें देश को दोबारा नेहरू की तरह निवेश बढ़ाने पर जोर देना चाहिए। नेहरू को सरकारी नेतृत्व वाले निवेश का रुख इसलिए करना पड़ा क्योंकि निजी क्षेत्र ने अपने हाथ खड़े कर दिए थे। परंतु अब वैसी कोई बात नहीं है और मोदी को इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

यह नेहरूवादी मॉडल से उचित प्रस्थान होगा। तमाम नीतियां, कर, आयात, ब्याज दर और विनिमय दर आदि को निजी क्षेत्र के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। सरकारी क्षेत्र की भूमिका सीमित होनी चाहिए। यह एक अभिशाप की तरह है। ऐसा नहीं है कि सार्वजनिक निवेश नहीं होना चाहिए। होना चाहिए लेकिन उसे परिवहन और सामाजिक बुनियादी क्षमताएं विकसित करने तक सीमित रखा जाना चाहिए, चीन की तरह। यहां तक कि बिजली क्षेत्र, जिसे कांग्रेस अधोसंरचना क्षेत्र मानती रही है, उसका भी निजीकरण किए जाने की आवश्यकता है। यह राज्य सरकारों के राजकोष पर बोझ बन चुका है।

एक बार फिर ठीक चीन के तर्ज पर हमें सरकारी जमीन को बड़े निजी कारोबारियों को बेचना चाहिए ताकि वे वहां कार्यालय और आवास बना सकें। यह ऐसा क्षेत्र है जिसकी मांग हमेशा बनी रहती है। यह निवेश में कई गुना इजाफा करने वाली बात होगी।

साहब, दाएं मुड़िए

लब्बोलुआब यह कि मोदी को अब कांग्रेस का अनुकरण करना बंद कर देना चाहिए। अब बहुत हो गया। उन्हें उस मॉडल से निजात पाकर निजी पूंजी का समर्थन करना चाहिए।

वह भारी बहुमत से जीतकर पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि आरएसएस के साथ रिश्ते में वह भारी रहेंगे। आरएसएस भी उतना ही यथास्थितिवादी है जितने कि कांग्रेस और माकपा। अब उन्हें भारत को सही मायने में निजी उद्यमों के नेतृत्व वाली अर्थव्यवस्था बनाना चाहिए।

वर्ष 2014 में उन्होंने विकास को अपने प्रचार का केंद्र बनाया था लेकिन वह समाजवादी विचार से बाहर नहीं निकल पाए। उन्होंने पूंजी का निहायत गैर किफायती इस्तेमाल किया। 2019 के आम चुनाव में उन्होंने राष्ट्रवाद को मुद्दा बनाया।

अगर इस बार भी वह रोजगार और काम के मोर्चे पर अच्छा प्रदर्शन करने में नाकाम रहे तो 2024 का चुनाव किस मुद्दे पर लड़ेंगे। वह मतदाताओं को दोबार बेवकूफ नहीं बना सकते। ऐसे में उन्हें निजी क्षेत्र का समुचित इस्तेमाल करना होगा। उनके पास यह कौशल है कि वे अपने विचारों का क्रियान्वयन करवा पाएं।

एक बार अगर उन्होंने ऐसा करने का मन बना लिया तो बाकी सब हो जाएगा। मुझे यकीन है कि सैम पित्रोदा यह कहते हुए उनकी सहायता करके प्रसन्न होंगे, किया तो किया।

कानाफूसी

विभूतियों का विश्वविद्यालय

नई सरकार में चंद चेहरे ऐसे हैं जिनके बारे में जानकर कोई भी आश्चर्य कर सकता है कि क्रांतिकारी सरकार का हिस्सा बन रहे हैं। बतौर एक शैक्षणिक संस्थान पिछले कुछ सालों में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के बारे में काफी कुछ अनापशनाप कहा गया। कहा गया कि यह ऐसी जगह है जहां छात्र पढ़ाई कम करते हैं और राजनीतिक चर्चा अधिक करते हैं। इसी जेएनयू के दो छात्र एस जयशंकर और निर्मला सीतारमण सरकार में मंत्री बनाए गए हैं। विदेश मंत्री जयशंकर ने भारतीय विदेश सेवा में शामिल होने से पहले जेएनयू से एम ए, एम फिल और पीएचडी की डिग्री ली। वहीं निर्मला सीतारमण ने यहां से अर्थशास्त्र में डिग्री ली है। सीतारमण न केवल अच्छी छात्रा थीं बल्कि उन्होंने वहां छात्र राजनीति में भी अच्छा खासा दखल रखा। उनकी वहां माकपा की छात्र इकाई एसएफआई के खिलाफ एक मुक्त विचारक की छवि थीं। ऐसे में अब कहा जा सकता है कि जिस विश्वविद्यालय ने देश को कुछ शीर्ष मंत्री दिए हैं, वहां कुछ तो बेहतर भी हो रहा होगा।

आपका पक्ष

घरेलू विमानन कंपनियों पर नजर

केवल परिचालन लाभ पर विमानन कंपनियां नहीं चल सकती हैं। उन्हें मजबूत होने के लिए सरकार का पूरा सहयोग चाहिए। अन्य उद्योगों की तरह इसे लाभप्रद होना चाहिए। ये कंपनियां घरेलू निर्माण और घरेलू उड़ान पर अधिक ध्यान देंगी तो अधिक संख्या में भारतीय नागरिकों की उन तक पहुंच भी होगी। निर्माण एवं उड़ान घरेलू हों इस पर भरपूर सरकारी प्रोत्साहन मिले। बेतहाशा ऋण लेने एवं वित्तीय संस्थाओं द्वारा देने से ही विमानन कंपनियां कठिनाइयों से घिर गई हैं। लगता है कंपनियों की रुचि अंतरराष्ट्रीय उड़ानों में अधिक है। विदेशी विमान खरीदने में भी उनकी रुचि ज्यादा है। कहीं यह उनके संकट का न्यौता तो नहीं है। विदेशी विमानों तथा विदेशी विमानन कंपनियों से समझौता कहीं निजी भारतीय विमानन कंपनियों की मजबूरी तो नहीं है। क्या इसका एक कारण सरकार की मजबूरी तो नहीं है। हवाई जहाजों, ड्रोन आदि पर सरकार अरबों रुपये लगा सकती है क्या इसमें से आधी रकम घरेलू विनिर्माण एवं अनुसंधान पर नहीं लगा सकती है। क्या लंबी दूरी की उड़ानें जिनके अधिकांश यात्री गैर भारतीय हों भारतीय कंपनियों को मुनाफा दिलाती रही हैं। सरकार को इस क्षेत्र में उचित कदम उठाने की जरूरत है जिससे कि घाटे में चल रही विमानन कंपनियां उबर सकें।

विमानन कंपनियों को घाटे से उबारने के लिए सरकार को कदम उठाने चाहिए

हिम्मत जोशी, नागपुर

जंगल की आग से उठते सवाल

हाल ही में उत्तराखंड के कई जंगलों में आग लगने की घटनाएं हुई हैं। राज्य के वनाच्छादित जिले पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, नैनीताल, बागेश्वर, टिहरी, उत्तरकाशी, रुद्रप्रयाग और देहरादून जिलों में जंगल की आग से काफी नुकसान हो रहा है। इसमें से कुछ जंगलों में लगी आग पर काबू पा लिया गया है, लेकिन अभी भी कई जगह जंगल में आग लगी हुई है। इस भीषण गर्मी में जंगलों में आग लगने से न सिर्फ वनस्पतियां नष्ट होती हैं, बल्कि वन्य जीवों के भी अस्तित्व पर खतरा रहता है। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक अब तक कुल मिलाकर जंगल में आग लगने की 1,600 से अधिक घटनाएं हुई हैं। बहरहाल, विज्ञान कितना भी तरक्की कर ले, लेकिन मनुष्य प्रकृति के आगे सदैव बौना साबित हुआ है। उत्तराखंड में प्रतिवर्ष फरवरी के बाद जंगलों में आग लगने की घटनाएं शुरू हो जाती हैं। प्रशासन आग बुझाने की कोशिस करता है लेकिन दावानल के सामने नतीजा सिफर रहता है। जून आते-आते हजारों हेक्टेयर क्षेत्र में आग लग जाती है। इस दौरान भीषण गर्मी में आग बुझाना प्रशासन के बस में नहीं रहता है। लिहाजा, प्रशासन खानापूर्ति कर जुलाई में बारिश के साथ हो लेता है। अब सवाल यह उठता है कि जंगलों में लगी आग को बुझाने के लिए तकनीकी तरक्की, पर्यावरणीय राज्य, जैविक संतुलन और पर्यटन की अपार संभावना सहेजे राज्य के प्रति इस तरह की लापरवाही क्यों? पहले से ही हम साफ पानी, स्वच्छ हवा और सदाबहार मौसम के लिए कई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। इसके अलावा हमें पर्यावरण से संबंधित कई सवाल के जवाब का इंतजार है।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in
उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।